दैनिक भास्कर

Date: 11-09-24

मणिपुर में आपातकालीन शक्तियों का उपयोग जरूरी

संपादकीय

एक भाजपा प्रतिनिधि मंडल ने दिल्ली सीएम की गिरफ्तारी से उपजे 'संवैधानिक संकट' के कारण दिल्ली में राष्ट्रपति शासन की मांग की है। राष्ट्रपति ने मांग पत्र गृह सचिव को भेज दिया है। दूसरी ओर, डेढ़ साल से जातीय हिंसा के लगातार बढ़ते दावानल से भाजपा शासित मणिपुर जल रहा है। हिंसा का स्वरूप और आयाम क्रूरतम है और राज्य अभिकरणों की पक्षपातपूर्ण भूमिका के अकाट्य प्रमाण हैं। संवैधानिक दायित्वों का राज्य सरकार द्वारा निर्वहन न होने की जानकारी केंद्रीय एजेंसियों ने रिपोर्ट्स के जरिए दी। संविधान ने केंद्र को आपात प्रावधान के नौ-अनुच्छेदों के तहत इन्हीं स्थितियों से निपटने के लिए राष्ट्रपति शासन सहित अनेक अधिकार दिए हैं। क्या केंद्र का संवैधानिक जिम्मेदारी निभाते हुए इस राज्य का शासन अपने हाथ में न लेने का निर्णय सही है? टीएमसी - शासित पश्चिम बंगाल में डॉक्टर से दुष्कर्म और हत्या की जघन्यतम वारदात पर केंद्र और न्यायपालिका की प्रो-एक्टिव भूमिका सराहनीय है। राज्यपाल का सीएम को कैबिनेट की आपात बैठक बुलाने का आदेश देना सही है। लेकिन क्या ऐसी ही सलाह मणिपुर के राज्यपाल से नहीं आनी चाहिए? दल-बदल के जरिए किसी राज्य सरकार को अस्थिर करने या होने पर दो बार उत्तराखंड में और एक बार अरुणाचल में राष्ट्रपति शासन इसी शासन में लगा, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने गलत ठहराते हुए पूर्व की गैर-भाजपा सरकार को बहाल किया। यह सच है कि सुप्रीम कोर्ट की नौ सदस्यीय पीठ ने बोम्मई फैसले (1994) में महज कानून व्यवस्था बेहतर करने के लिए राष्ट्रपति शासन लगाने को अनुचित माना है, लेकिन जब केंद्रीय एजेंसियां भी मणिपुर हिंसा के लगातार नियंत्रण से बाहर होने की जानकारी समय-समय पर दे रही हैं, तो क्या इसे संवैधानिक मशीनरी की असफलता नहीं माना जाएगा? अगर मणिपुर जलता रहा तो केंद्र क्या किसी राज्य में इन शक्तियों का प्रयोग उचित ठहरा पाएगा?

दैनिक जागरण

Date: 11-09-24

पड़ोसी देशों को साधने की चुनौती

हर्ष वी. पंत , (आब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन में उपाध्यक्ष हैं)

आदर्श पड़ोस एक मिथ्या धारणा है। दैनिक जीवन में भी अपने पड़ोसियों से तालमेल बिठाने के लिए हमें तरह-तरह के पापड़ बेलने पड़ते हैं। पड़ोसियों के अभाव में भी हम अपूर्ण अनुभव करते हैं और उनकी उपस्थिति में उनके साथ धींगामुश्ती में लगे रहते हैं। ऐसा इसीलिए, क्योंकि अक्सर कई मसलों पर उनके साथ मेल-मिलाप मुश्किल होता है। हम उनके साथ जश्न भी मनाते हैं और छोटे-मोटे मुद्दों को लेकर नियमित आधार पर तकरार भी करते हैं। कुल मिलाकर पड़ोसियों के साथ सामंजस्य एक कड़ी चुनौती और रोजमर्रा की मशक्कत है। इस स्थिति से पार पाने का कोई एक कारगर मंत्र नहीं है। इसके लिए हमें निरंतर काम करना पड़ता है, ताकि अपने मन की शांति सुनिश्चित की जा सके।पड़ोसियों के मामले में जिन पेचीदगियों से आम लोग दो-चार होते हैं, वही स्थिति देशों के साथ भी होती है। कोई भी देश चाहे वह छोटा हो या फिर बड़ा, वह अपने पड़ोस को लेकर संघर्ष की स्थिति में ही दिखता है। इस मामले में पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने यथार्थ ही कहा था, 'आप अपने मित्र चुन सकते हो, लेकिन पड़ोसी नहीं।' यही कारण है कि दुनिया के किसी भी कोने में आदर्श पड़ोसी जैसी न तो कोई स्थिति है और न ही कोई आदर्श पड़ोस नीति। इसमें और भी दिलचस्प पहलू यह है कि संबंध कई बार जितने अनुकूल दिखते हैं, उनकी मूल प्रकृति में उतने ही प्रतिकूल पहलुओं की मौजूदगी की आशंका बनी रहती है। भारत और उसका पड़ोस भी इस परिदृश्य से अलग नहीं।

जब भी भारत के किसी पड़ोसी देश में कुछ अप्रत्याशित घटता है तो कूटनीतिक-सामरिक हलकों में सवाल उठने लगते हैं कि आखिर इसकी कोई भनक क्यों नहीं लगी? मजे की बात यह है कि सवाल उठाने वाले स्वर मुख्य रूप से उन लोगों के होते हैं, जो अतीत में कूटनीतिक प्रतिष्ठान का हिस्सा रहे और उन्हें भी अपने उत्तराधिकारियों जितनी ही मिश्रित सफलता-असफलता हाथ लगी। हालांकि, वर्तमान की लानत-मलानत की प्रक्रिया में अतीत की बातों को विस्मृत कर दिया जाता है। समाधान के रूप में उन्हीं घिसे-पिटे सुझावों को सामने रखा जाता है, जिन्हें बीते सात दशकों के दौरान अलग-अलग तरीके से आजमाया जा चुका हो। इसका यह अर्थ नहीं कि आस-पड़ोस को लेकर भारत की नीतियां बिल्कुल माकूल हैं और उनके नीर-क्षीर विश्लेषण और समालोचना की आवश्यकता नहीं।

पड़ोस के संदर्भ में इस समय बांग्लादेश का मामला सबसे अधिक चर्चित है, क्योंकि बीते दिनों वहां सरकार को बेदखल किया गया। शेख हसीना सरकार के तख्तापलट के बाद से बांग्लादेश भारी उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा है। इस प्रकरण ने पड़ोस को प्रभावित करने को लेकर नई दिल्ली की सीमाओं को फिर से उजागर करने का काम किया है। बांग्लादेश में इतने बड़े पैमाने पर करवट ले रहे परिवर्तन का आकलन करने को लेकर यह मामला जितना भारतीय नौकरशाही और खुफिया तंत्र में समझ के अभाव से जुड़ा है, उतना ही बांग्लादेशी तंत्र पर भी सटीक बैठता है। एक लंबे समय तक संबंधों में गतिरोध के बाद बीते 15 वर्ष भारत-बांग्लादेश संबंधों के दृष्टिकोण से मील के पत्थर कहे जा सकते

हैवर्षों की राजनीतिक उथल-पुथल के बाद बांग्लादेश ने भारत को लेकर अपनी पसंद का दांव चला और नई दिल्ली ने इन अनुकूल समीकरणों को हरसंभव तरीके से भुनाने का काम किया। बांग्लादेश की राजनीति में बीते डेढ़ दशक तक शेख हसीना के दबदबे से पहले ढाका के साथ भारत के रिश्ते बड़े कठिन दौर में थे और नई दिल्ली में शायद ही उसे लेकर कोई आशा की किरण दिखती थी। वहां एक बार फिर भारत विरोधी भावनाओं का ज्वार उठ रहा है। इस तथ्य को भी ओझल नहीं किया जा सकता कि पूर्व में बीएनपी सरकार के दौरान भारत-विरोधी रैलियों का आयोजन कितना आम हो गया था। इसी प्रकार मालदीव में इब्राहिम सोलिह के कार्यकाल के दौरान मिली सफलता पर मोहम्मद मुइज्जू के सत्ता में आने के स्तर पर मिली विफलता कहीं ज्यादा हावी दिखती है। इस बीच हमें यह भी याद रखना होगा कि महान राष्ट्र अपनी आधार भूमि पर मजबूती से टिके रहने के बावजूद उसकी परिधि से बाहर निकलकर कुछ गलतियों को नहीं दोहराते।

पड़ोसी देशों के लिहाज से भारत की स्थिति हमेशा मुश्किल रही है और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अपने आस-पड़ोस में भारत के वर्चस्व का कोई स्वर्णिम दौर भी रहा है। स्वतंत्रता के समय से ही जहां भारत के पड़ोसियों ने उसके कद के लिहाज से संतुलन बनाने का प्रयास किया, वहीं पाकिस्तान ने तो हमेशा खुद को भारत के बराबर प्रस्तुत करने के हरसंभव जतन किए। तमाम पड़ोसी देश समय-समय पर अन्य देशों के साथ संबंधों की पींगें बढ़ाकर भारत के साथ रिश्तों की दशा-दिशा तय करते रहे। भारत के बगल में चीन का उभार यही दर्शाता है कि उसके आर्थिक उभार के साथ ही भारत के पड़ोसियों की बीजिंग से गलबहियां उसी हिसाब से बढ़ती गईं।

भारत के पड़ोसियों की नियति मुख्य रूप से भारत द्वारा निर्धारित की जाएगी! हमारा यह आकलन जितना गलत है, उतना ही यह भी कि भारत की नियति को उसके पड़ोसी निर्धारित करेंगे। एक चुनौतीपूर्ण पड़ोस के बावजूद भारत के अंतरराष्ट्रीय कद और रसूख में निरंतर वृद्धि ही हुई है। भारत के उदय के समानांतर ही उसके कई पड़ोसी देश आर्थिक उतार-चढ़ाव से जूझते रहे। पड़ोस से जुड़ी भारत की नीति की आलोचना करते हुए हमें इन देशों की वस्तुस्थिति का भी संज्ञान लेना होगा। इसमें नई दिल्ली के प्रयास निश्चित रूप से एक पहलू हैं, लेकिन केवल यही एक पहलू सफलता को निर्धारित नहीं करेगा। तार्किक नीति यही कहती है कि भारत को अपने पड़ोस में निरंतर निवेश करते रहना चाहिए और साथ ही वह जागरूकता का यह भाव भी बढ़ाए कि इस निवेश का परिणाम उसके पड़ोसियों के हाथ में ही है। यदि अतीत के हिसाब से देखें तो ऐसे किसी निवेश पर बड़े प्रतिफल के आसार नहीं लगते। इसलिए, भारत की सफलता इसी पर निर्भर करेगी कि वह अपनी भौगोलिक परिधि के पहलू को किनारे रखकर एक प्रमुख वैश्विक शक्ति के रूप में स्थापित होने के पुरजोर प्रयास करे।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 11-09-24

शोध और विकास में क्यों पिछड़ जाता है निजी क्षेत्र

लवीश भंडारीलवीश भंडारी , (सीएसईपी के अध्यक्ष हैं)

भारत में इस बात पर लगभग आम सहमति है कि देश को शोध एवं विकास के क्षेत्र में बहुत अधिक काम करने की आवश्यकता है ताकि हम तेज और प्रभावी ढंग से विकास हासिल कर सकें। इस लक्ष्य के बावजूद अधिकांश लोग इस बात पर भी सहमत हैं कि शोध एवं विकास पर हम बहुत कम राशि खर्च करते हैं।बार-बार दोहराए जाने वाले आंकड़े बताते हैं कि ताइवान (3.6 फीसदी), दक्षिण कोरिया (4.8 फीसदी), चीन (2.4 फीसदी) और यहां तक कि ब्राजील (1.2 फीसदी) की तुलना में भारत अपने सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का केवल 0.65 फीसदी शोध एवं विकास पर खर्च करता है।

यकीनन यह सही है कि उच्च प्रति व्यक्ति आय वाले देश शोध एवं विकास पर अधिक खर्च करते हैं। भारत की प्रति व्यक्ति आय इन सभी देशों से कम है इसलिए अगर हम भारत के शोध एवं विकास संबंधी प्रदर्शन का आकलन उसकी आय के हिसाब से करें तो शायद प्रदर्शन उतना बुरा नहीं। कम आय वर्ग को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शायद शोध एवं विकास पर हमारा वर्तमान व्यय इस आय वर्ग वाले देशों के वैश्विक औसत के आसपास है।

परंतु यह पर्याप्त नहीं है। भारत को शोध एवं विकास में और प्रयास करने होंगे और इसका आकलन इस बात से करना होगा कि हम कहां पहुंचना चाहते हैं। अगर अगले दो-तीन दशकों में आय चार गुना हो जाती है और साथ ही हम समावेशन और टिकाऊपन की चुनौतियों को भी हल कर पाते हैं तो नवाचार की भूमिका अहम होगी।इस बात को ध्यान में रखते हुए सरकार शोध एवं विकास पर व्यय बढ़ाने का प्रयास कर रही है। 2010 के दशक से ही इस क्षेत्र में किए जाने वाले व्यय में सरकार की हिस्सेदारी लगातार बढ़ रही है। फिलहाल देश के कुल शोध एवं विकास व्यय में सरकार की हिस्सेदारी 60 फीसदी है। परंतु शोध एवं विकास से जुड़ी अधिकांश सरकारी एजेंसियां अभी रक्षा, अंतरिक्ष, कृषि और परमाणु शोध पर केंद्रित हैं।इस क्षेत्र में होने वाली फंडिंग का अहम हिस्सा अकादमिक संस्थानों को जाता है। दूसरे शब्दों में सुरक्षा और संबंधित क्षेत्र (खाद्य सुरक्षा समेत) सरकार के शोध एवं विकास में अहम हिस्सेदार हैं। निजी क्षेत्र के दबदबे वाली अर्थव्यवस्था में शोध एवं विकास के नवाचार और विकास घटक में निजी क्षेत्र की अहम हिस्सेदारी होनी चाहिए।

देश के कुल शोध एवं विकास में कारोबारी क्षेत्र की हिस्सेदारी 2012-13 के 45 फीसदी से कम होकर 2020-21 में 40 फीसदी रह गया था। इससे ताजा आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। देश के कारोबार शोध एवं विकास में अधिक व्यय क्यों नहीं करते? इसके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और तर्को में समुचित प्रोत्साहनों की कमी, सरकारी लाभों तक पहुंचने में कठिनाइयां और देश में अनुसंधान और विकास संस्कृति का अभाव शामिल हैं।प्रोत्साहन की कमी को लेकर यकीनन तर्क दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए चुनिंदा सूक्ष्म, लघु और मझोले यानी एमएसएमई उपक्रमों में अपने बौद्धिक संपदा अधिकारों के बचाव की भावना होती है क्योंकि देश की अदालतों में अक्सर देरी होती है और शोध एवं विकास में मौजूदा 100 फीसदी की कर कटौती से अहम लाभ नहीं हासिल होते। कागजी कार्रवाई और प्रमाणन लागत सहित कई

दिक्कतों की वजह से दिए जाने वाले प्रोत्साहन तक पहुंच बना पाना मुश्किल होता है।परंतु ये मुद्दे अपेक्षाकृत छोटे हैं। कंपनियों द्वारा शोध एवं विकास का काम नहीं करने की वजह सरकारी प्रोत्साहन की कमी नहीं बल्कि प्रतिस्पर्धी ताकतों की अनुपस्थिति हो सकती है। शोध एवं विकास व्यय बढ़ाने के हिमायती आमतौर पर भारत की तुलना विकसित देशों से करते हैं।या उन देशों से जिनका वैश्विक प्रतिस्पर्धा में बेहतर प्रदर्शन हो मसलन ताइवान, दक्षिण कोरिया, चीन आदि। परंतु इंडोनेशिया (0.28 फीसदी), मेक्सिको (0.3 फीसदी), दक्षिण अफ्रीका (0.6 फीसदी) जैसे देश शोध एवं विकास पर जीडीपी का बहुत कम हिस्सा व्यय करते हैं। ये सभी देश संसाधन संपन्न हैं। यानी केवल प्रतिव्यक्ति आय नहीं बल्कि आर्थिक ढांचे और प्रतिस्पर्धी हालात का सामना भी शोध एवं विकास व्यय को प्रभावित करता है।

जब घरेलू बाजार वैश्विक कंपनियों के लिए खुले हों तब प्रतिस्पर्धा के लिए बेहतरीन अवसर होते हैं। उच्च टैरिफ और गैर टैरिफ गतिरोध जैसे संरक्षणवादी कदमों से न केवल घरेलू कीमतें बढ़ती हैं बल्कि प्रतिस्पर्धा को भी क्षति पहुंचती है। साथ ही इससे घरेलू कंपनियों का शोध एवं विकास की ओर रुझान भी कम होता है। अगर इन्हीं घरेलू कंपनियों को वैश्विक बाजारों में प्रतिस्पर्धा करनी होती तो उनके पास शोध एवं विकास व्यय बढ़ाने के सिवा कोई विकल्प नहीं होता क्योंकि तब उनको वैश्विक स्तर के उत्पाद बनाने होते, लागत कम करनी होती या गुणवत्ता सुधारनी होती।परंतु बड़ी भारतीय कंपनियां, खासकर विनिर्माण की कंपनियां वैश्विक उत्पाद बाजार में बहुत छोटी हैसियत रखती हैं। आईटी क्षेत्र में जहां भारतीय कंपनियों की बड़ी छाप है वहां भी बड़ी कंपनियां कारोबारी सेवा क्षेत्र में काम कर रही हैं जहां आंतरिक शोध एवं विकास के लाभ सीमित हैं।

सवाल यह भी है कि क्या कंपनियां नए बाजारों में जाने के लिए शोध एवं विकास तथा उससे उत्पन्न नवाचार का इस्तेमाल नहीं कर सकतीं? 1970 और 1980 के दशक में जापान ने छोटी कारों के इस्तेमाल में जो कामयाबी हासिल की वह इस बात का उदाहरण है कि कैसे घरेलू नवाचार का इस्तेमाल नए बाजारों में प्रवेश के लिए किया गया। अन्य देशों मसलन दक्षिण कोरिया आदि के प्रमाण दिखाते हैं कि उत्पाद क्षेत्र में नवाचार तभी कारगर होता है जब संबंधित कंपनी पहले से वैश्विक पहुंच रखती हो।

परंतु जब देश में अधिकांश औद्योगिक क्षेत्रों में कई कंपनियां हैं तो घरेलू प्रतिस्पर्धा के कारण शोध एवं विकास क्यों नहीं हो रहा? इसके दो जवाब हो सकते हैं। पहला यह कि घरेलू प्रतिस्पर्धा उतनी अधिक नहीं है और दूसरा समस्या सांस्कृतिक है। भारतीय उपक्रम अदूरदर्शी होते हैं और शोध एवं विकास पर ध्यान देने के बजाय मौजूदा बाजारों पर ध्यान देते हैं।

दोनों ही दलीलों को गहन विश्लेषण की जरूरत है। बड़ी कंपनियों का मुनाफा या तो स्थिर रहा है या फिर लंबे समय से बढ़ रहा है। भविष्य में मुनाफे की संभावना भी अच्छी दिखती है। ऐसे में शोध एवं विकास में अधिक निवेश के लिए कंपनियों के पास उतनी अधिक प्रोत्साहन नहीं है क्योंकि संरक्षित भारतीय घरेलू बाजारों में उच्च वृद्धि के चलते अच्छे मुनाफे का अनुमान रहता है।इससे यह भी समझा जा सकता है कि आखिर क्यों मुनाफे में चलने वाली और नकदी संपन्न भारतीय कंपनियां अन्य देशों में बहुत कम निवेश करती हैं क्योंकि देश में मुनाफा और वृद्धि दोनों अधिक हैं।
ऐसे में कथित सांस्कृतिक दलील एक आर्थिक दलील है। बड़ी भारतीय कंपनियों के शोध एवं विकास में निवेश करने के लिए फिर भी बहुत कम प्रोत्साहन है क्योंकि वृद्धि अनुमान और संरक्षित बाजार ऐसे हालात बनाते हैं जहां शोध एवं विकास में धन लगाना समझदारी नहीं होता। दूसरे शब्दों में केवल शोध एवं विकास प्रोत्साहन से नवाचार और उत्पादकता

में इजाफा नहीं होगा बल्कि अहम प्रतिस्पर्धी ताकतों की मौजूदगी और नवाचार की जरूरत भी शोध एवं विकास को गति देता है।